

स्विट्ज़रलैंड में ८०० की आबादी वाले छोटे से गांव लोरेन में जर्मन-हिंदी अनुवाद विषय पर ५ दिवसीय कार्यशाला का आयोजन विगत १८ से २३ फरवरी, २०१८ को किया गया। इसमें जर्मनी में रहने वाले हिंदी भाषा के विद्वान और भारत में रहने वाले जर्मन भाषा के विद्वान एकत्रित हुए और उन्होंने जर्मन भाषा से हिंदी और हिंदी से जर्मन भाषा के अनुवाद को बेहतर बनाने के विभिन्न तरीकों पर चर्चा की। अनुवाद के संदर्भ में दिल्ली विश्वविद्यालय की जर्मन भाषा विशेषज्ञ सुश्री नमिता खरे से उप्सला विश्वविद्यालय, स्वीडन के प्रोफेसर हाइन्ज़ वेर्नर विस्लेर ने विस्तृत बातचीत की। प्रस्तुत हैं उसके प्रमुख अंश :



हाइंस वेसलर : सबसे पहले मैं पूछना चाहूंगा कि लोरेन वाली संगोष्ठी जो स्विट्ज़रलैंड में थी, उसमें हिंदुस्तान से जर्मन जुबान के विशेषज्ञ आए थे, जिन्हें जर्मन जुबान आती है, जिनको जर्मन साहित्य के बारे में बहुत कुछ मालूम है और यहां जर्मनी के भारतविद्या यानी इण्डोलॉजी के विशेषज्ञ आए थे। आपको क्या लगता है इन दोनों के बीच में कैसी साम्यता मिलती है या सामञ्जस्य। हम एक ही तरीके से अनुवाद की समस्याओं को देखते हैं या अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में ?

नमिता खरे : देखिए, यहां पर मैं दो बातें कहना चाहूंगी। एक तो यह कि सामञ्जस्य जो आपने कहा। कहीं न कहीं दो तरह का सामञ्जस्य हो सकता है। एक, अनुवाद की ओर देखने का और दूसरा, चूंकि दोनों में यह भी सामञ्जस्य था कि दोनों ही दोनों भाषाओं से पूरी तरह वाकिफ़ थे, जिसकी वजह से लोरेन में जो हमारी संगोष्ठी हुई उसे सफल की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस संगोष्ठी में पहुँचने से पहले कहीं-न-कहीं यह डर था कि हमारा क्या योगदान होगा, जो हिंदी

से जर्मन साहित्य में अनुवाद करते हैं उनका क्या योगदान हो सकता है और दूसरी तरफ के साथियों से हम क्या अपेक्षा कर सकते हैं। लेकिन फायदा यह रहा कि चूंकि सभी को दोनों ही साहित्यों का भी ज्ञान था और भाषा का भी, इसलिए बहुत अच्छे से लोग बता पा रहे थे कि यहां पर इसको इस तरह से सुधारा जा सकता है। दूसरी बात जो आप पूछ रहे हैं कि अनुवाद के बारे में दोनों ही भाषाओं के लोगों का क्या नज़रिया है। मुझे लगता है, मौटे तौर पर कहा जाए तो नज़रिया काफी हद तक एक-सा है। हां, ये हो सकता है कि चूंकि कुछ लोगों का अनुवाद में अनुभव कम है, दूसरों का उनके बनिस्बत ज्यादा है, तो आपने जब इतना काम किया होता है तो जाहिर-सी बात है कि आपका योगदान भी कहीं ज्यादा होगा। मूल के प्रति आपको कितना निकट रहना है, आप उससे किस तरह की दूरी बना सकते हैं, यह सब शायद समय के साथ बदलता है। तो ये थोड़ा अंतर था।

हाइंस वेसलर : मैं काफी प्रभावित हूँ कि हिंदुस्तान से नई पीढ़ी के लोग आए हैं जो अभी पी-एच.डी. लिख रहे हैं या उससे थोड़ा आगे जा चुके हैं, जिनमें सचमुच एक तरह की दिलचस्पी दिखती है कि वे न सिर्फ जर्मन से अंग्रेजी में अनुवाद करें पर जर्मन से हिंदी में भी। पूरे हिंदुस्तान में अंग्रेजी बढ़ती जा रही है। पूरा मध्यम वर्ग उसके पीछे-पीछे जा रहा है। मैं पूछना चाहूंगा कि जो लोग यहाँ आए हैं उनका रुझान हिंदी की तरफ, जर्मन से हिंदी में अनुवाद करने में कैसे हुआ।

नमिता खरे : देखिये, एक बात तो साफ है कि हम रोजीरोटी के लिए भले ही अंग्रेजी का सहारा लेने को मजबूर हों मगर उत्तरी भारत में खास तौर से अब भी हिंदी का बोलबाला है। रोजमर्रा की जिंदगी में भी यही देखने को मिलता है - हममें से कई लोग विश्वविद्यालयों में पढ़ाते हैं और वहाँ भी यही देखने को मिलता है कि जब हम अपने छात्रों से अंग्रेजी में बात करते हैं तो एक तरह की रिक्तता रह जाती है और जब हम उनसे हिंदी में बात करते हैं तो वो कहीं न कहीं शायद और अच्छे से हमको समझ पाते हैं और हम उनकी बात भी उतने ही अच्छे से समझते हैं। तो यही सब सोचते हुए हम लोगों को लगा कि हम अगर हिंदी में अनुवाद करेंगे तो शायद यह हमारे लिए ज्यादा स्वाभाविक रहेगा क्योंकि हम चाहे अंग्रेजी में कितने भी सक्षम क्यों न हों पर अपने भावों को प्रकट करने की सहजता अपनी मातृभाषा में कहीं अधिक होती है।

हाइंस वेसलर : वो तो जरूर है। पर अभी तक हिंदी-जर्मन अनुवाद कम किए गए हैं। यानी सीधे जर्मन से हिंदी में, अंग्रेजी को छोड़कर। पर अभी मुझको लगता है कि यहां पांच लोग जो आए हैं उन्हें इसमें सचमुच दिलचस्पी है कि वे सीधे जर्मन से हिंदी में अनुवाद करें। अब एक नई धारणा बन रही है, ऐसा क्यों?

नमिता खरे : देखिये, कहीं न कहीं इसका इससे भी लेना-देना है कि हमारे विभागों में बहुत समय तक हिंदी को लेकर हीनता की भावना थी और बहुत से ऐसे भी लोग थे जो खुद को इसके लिए समर्थ नहीं मानते थे, मगर कुछेक अपवाद भी थे और आज के समय में ये अपवाद हमारे लिए प्रेरणा के स्रोत बन गए हैं। इसी वजह से अब लोगों ने अपनी हिंदीवाली हीनग्रंथि पर जीत हासिल कर ली है और वे अब खुद ही अपनी मातृभाषा में अनुवाद करने को तैयार हैं।

हाइंस वेसलर : वो हीनता की भावना कैसे खत्म हुई? जैसे आप कहती हैं कि वो खत्म खत्म हुई है या धीरे-धीरे खत्म हो रही है। ऐसा क्यों? क्योंकि भारत बढ़ रहा है, शक्ति बढ़ रही है, इसके साथ आत्मविश्वास बढ़ रहा है या इसका कारण क्या हो सकता है?

नमिता खरे : शायद यह भी एक वजह हो, दरअसल मैंने इस बारे में अभी कुछ खास सोचा नहीं है। हम लोगों ने यूनिवर्सिटीज़ में जब हाल में फिर से जर्मन से हिंदी में अनुवाद का काम शुरू किया तो कहीं न कहीं हमारे जेहन में यह भी



सवाल था कि अगर हम जर्मन से अंग्रेजी में अनुवाद करेंगे तो उसे छापेगा कौन। मिसाल के तौर पर, भारत में एक पब्लिशिंग हाउस है, सीगल बुक्स, बहुत सारी जर्मन किताबों के अंग्रेजी अनुवाद छापता है। उनके जो भी अनुवादक हैं, वो भारतीय नहीं हैं। हो सकता है उस प्रकाशक की यह मंशा न हो कि वो गैर-अंग्रेजी मातृभाषा वाले लोगों को न ले, लेकिन हम लोगों को कहीं-न-कहीं ऐसा लगता है कि शायद ऐसा हो और हम लोगों के वहां अनुवाद न छपें। और उसके बनिस्बत जो हिंदी प्रकाशक हैं, वो अभी थोड़ी दिलचस्पी दिखा रहे हैं। जो भी कारण हो, जिस वजह से भी दिखा रहे हों, लेकिन वो चाह रहे हैं कि जर्मन से हिंदी में अनुवाद हो। तो जब हमें लग रहा है कि वहां पर एक संभावना है, तो फिर हम उस राह को क्यों न पकड़ लें।

हाइंस वेसलर : लगता है कि इन किताबों की बिक्री भी होती है। यदि इन किताबों की बिक्री नहीं होती, तो...

नमिता खरे : ऐसा कह सकते हैं कि ये एकदम पारदर्शी नहीं है। रही बात बिक्री की, तो मेरा यह अनुभव है कि जब भी मैंने प्रकाशकों से पूछने की कोशिश की है कि कितनी प्रतियां बिकीं? तो सीधा-सीधा जवाब नहीं आया और ये तो मैं अपने अनुवादक के नज़रिये से बोल रही हूं। दो-तीन बातचीतों में जैसा कि अभी हमारी लोरेन की संगोष्ठी में भी लेखिका गीतांजलीश्री ने कहा कि कई बार बहुत साफ नहीं होता है कि कितनी प्रतियां बिकी हैं।

हाइंस वेसलर : पूरे बाजार में वो एक बहुत बड़ी तकलीफ है, पूरी हिंदी की प्रकाशन की दुनिया में।

नमिता खरे : जी...

हाइंस वेसलर : हां, तो फिर जो लोरेन वाला वर्कशॉप है, वो भी एक तरह से एक एक्सपेरिमेंट बना कि हम लोग किस तरह से टेक्स्ट को लेकर अनुवाद करते हैं। एक बात तो है कि हिंदुस्तान में जिस तरह से अनुवाद महत्वपूर्ण समझा जाता है आजकल, क्या वो पहले से ज्यादा है या कि क्या आप समझती हैं कि अनुवादक होने के नाते हमको यह इज्जत नहीं दी जाती है जिस तरह दूसरे लोगों को दी जाती है।

नमिता खरे : इसमें भी काफी बदलाव आया है। आज से करीब बीस साल पहले जिस विश्वविद्यालय में मैंने पढ़ाई की है, यानी जेएनयू में और ये मैं जर्मन विभाग के बारे में बात कर रही हूं। बहुत हद तक हम लोग जो अनुवाद शास्त्र पढ़ते थे उनको कहीं न कहीं ये लगता था कि हम शायद उतने काबिल नहीं हैं, जितने वे लोग हैं जो साहित्य को पढ़ते हैं। अब लेकिन स्थिति ये है कि ज्यादातर लोग वहां अनुवाद पढ़ने के लिए एडमिशन ले रहे हैं और साहित्य में उसके मुकाबले कम। तो ये बदलाव तो आया है। कम-से-कम पहले अनुवाद

पढ़ने वालों की जो हाशिये वाली स्थिति थी, वो अब खत्म हुई।

हाइंस वेसलर : ऐसा क्यों हुआ?

नमिता खरे : मार्केट। मार्केट फोर्सेस। मतलब काफी हद तक जो पूरा जर्मन स्टडीज़ है वहां भी अब देखने को मिल रहा है। जो छात्र अब यहाँ आते हैं वो इसलिए नहीं आते कि उन्हें बहुत ज्यादा जर्मन साहित्य और संस्कृति से प्रेम है। उनका बहुत ही इंस्ट्रुमेंटल दृष्टिकोण है। उन्हें मालूम है कि वो यहां से बी.ए. या एम.ए. करके जाएंगे, तो उनको अच्छी नौकरी मिलेगी। हम लोगों के समय में था कि शायद लोग इसलिए पढ़ते थे कि कहीं-न-कहीं जर्मन साहित्य को जानना चाहते थे, तो उसमें जब हम जैसे लोग जो शायद साहित्य में नहीं थे, बल्कि अनुवाद में थे, उन्हें लोग समझते थे कि ये तो बहुत ही मार्केट-ओरिएण्टेड हैं, तो हमको थोड़ी नीची नज़र से देखा जाता था।

हाइंस वेसलर : लोरेन वाली वर्कशॉप में बार-बार वाद-विवाद हुआ कि जर्मन संस्कृति और हिंदुस्तानी संस्कृति के लोग अलग-अलग दुनियाओं में रहते हैं। और यह आसान नहीं कि एक-दूसरे को समझें। यह अनुवाद शास्त्र को भी प्रभावित करता है। जो इस संदर्भ में लागू होता है कि जैसे कभी-कभी कहा जाता है कि सीधे अनुवाद करना मुमकिन नहीं। आपको क्या लगता है कि आम हिंदुस्तानी, जिनको जर्मनी के बारे में कुछ नहीं मालूम है, इनके सामने ये परेशानी आ जाती है कि आधुनिक या समकालीन साहित्य ऐसे ही समझ में आ जाएगा। एक भारतीय पाठक उसमें रस ले सकता है कि नहीं।

नमिता खरे : दो चीजें हैं फिर से। एक तो हम लोग समझते हैं कि हमारा पाठक बहुत बेवकूफ है। और हम अनुवादक कई बार उसको कदम-कदम पर एक लाठी का सहारा देते हुए सोचते हैं कि आगे बढ़ाएं। लेकिन हम लोग यह भूल जाते हैं कि हमने भी तो बहुत कुछ अनुवाद में पढ़ा है और हमें शायद हरदम इस लाठी की जरूरत नहीं पड़ी है कि कोई टेक दिलाता चले। वो एक हमारी कमी भी हो सकती है, हम अनुवादकों की और रही दूसरी बात कि जो समकालीन जर्मन साहित्य है, हमारा पाठक कहां तक इसका रस ले सकता है। तो मुझे लगता है शायद कहीं-न-कहीं अनुवादक के तौर पर हमारा यह भी एक काम है, एक हमारी जिम्मेदारी है कि हम उसको तरह-तरह का साहित्य मुहैया कराएं। ज़रूरी नहीं है कि हर चीज, हर जर्मन साहित्य हर पाठक को पसंद आए। लेकिन ये तो ज़रूरी है कि हम उसको ये संभावना दें कि वो उसमें से कुछ उठा सके। तो ये भी काफी हद तक रीडरशिप ट्रेनिंग की बात है। ■